जनवरी १९९२ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

धम्मवाणी

खत्तिया ब्राह्मणा वेस्सा, सुद्दा चण्डाल पुक्कुसा।
सब्बेव सोरता दन्ता, सब्बेव परिनिब्बुता॥

– जातक पकिण्णक २७ ३७६.

धर्म धारण करसभी शांत हो जाते हैं। सभी दांत हो जाते हैं। सभी परिनिवृत्त [मुक्त] हो जाते हैं। चाहे क्षत्रिय हों या ब्राह्मण, वैश्य हों या शूद्र, चण्डाल हों या पुक्कुस।

ऐसे थे गुरुदेव

शुद्ध धर्म की शिक्षा

गुरुदेव की जिस एक बात ने मुझे उनकी ओर सर्वाधिक आकर्षित किया वह थी उनकी शुद्ध धर्म की सार्वजनीन व्याख्या। सचमुच बुद्ध ने शुद्ध धर्म ही सिखाया। सांप्रदायिकता के संकीर्ण दायरे से परे। और यही गुरुदेव की भी शिक्षण-विधि थी। इसे भिन्न-भिन्न संप्रदाय और समाज के लोग आसानी से धारण करसकते हैं और लाभान्वित हो सकते हैं। मैंने गुरुजी में ऐसा कोई भी सांप्रदायिक भावावेश नहीं देखा, जिसके कारण कोई व्यक्ति अन्य संप्रदायवालों को अपने संप्रदाय में दीक्षित करने के लिए आतुर होता हो। वे किसी प्रकार की भी औपचारिक सांप्रदायिक दीक्षा को महत्त्व नहीं देते थे।

यह सच है कि वे परंपरागत बौद्ध थे और ऐसा होने का उन्हें गर्व था। पर उनके लिए बुद्ध की शिक्षा का सार शुद्ध सार्वजनीन धर्म था, सांप्रदायिकता नहीं। उनकी दृष्टि में बुद्ध का सच्चा अनुयायी वही है जो सद्धर्म धारण करता है। उनका लक्ष्य था लोगों को बुद्ध शासन में स्थापित करना। याने धर्म में स्थापित करना। इसीलिए वे बार-बार समझाते थे कि बुद्ध-शासन क्या है –

सब्ब पापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्त परियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं॥

सभी अकुशल पाप कर्मों से विरत रहना। कुशल कर्मों में रत रहना। अपने चित्त को माजते रहना, निर्मल करते रहना – यही बुद्धों का शासन है याने शिक्षा है। सभी बुद्धों की यही शिक्षा है।

शील, समाधि और प्रज्ञा। वे लोगों को इसी में स्थापित हो सकने में मदद करते थे ताकि लोग मैल से निर्मलता, दुःख से दुःख-विमुक्ति के सुखमय जीवन में परिवर्तित हो जांय, दीक्षित हो जांय। यूं निर्मलता में दीक्षित हो कर कोई अपने को बौद्ध कहे तो सयाजी प्रसन्न होते थे। लेकिन केवल मात्र नाम बदल लेने से किसी को क्या मिलेगा भला? स्वभाव सुधार ले तो जीवन सुधर जाए। बस महत्त्व इसी बात को देते थे।

लोगों को सम्प्रदाय में दीक्षित करने के भावावेश में लगे हुए अनेकों को गुरुदेव खूब खरी-खरी सुनाते थे। कहते थे, "औरों को बुद्धशासन में स्थापित करने का प्रयत्न करने के पहले स्वयं बुद्धशासन में स्थापित होना सीखो। स्वयं शील, समाधि, प्रज्ञा में स्थापित हुए बिना किसी दूसरे को शील, समाधि, प्रज्ञा में कैसे स्थापित कर पाओगे? और शील, समाधि, प्रज्ञा में स्थापित नहीं कर पाओगे तो बुद्धशासन में कैसे स्थापित कर पाओगे? केवल कोई निष्प्राण थोथी औपचारिकता पूरी करके उनका सम्प्रदाय बदलने से क्या मिलेगा?" वे बड़े दबंग शब्दों में कहा करते थे, – "यदि तुम शील, समाधि, प्रज्ञा में स्थापित नहीं हो तो अपने आप को हजार बौद्ध कहते रहो, मेरे लिए तुम बौद्ध नहीं हो और जो शील, समाधि, प्रज्ञा में स्थापित है वह अपने आप को बौद्ध कहे या न कहे, मेरे लिए वह बौद्ध ही है। बुद्ध की शिक्षा का सच्चा अनुयायी है। यही सच्ची **तातना प्यू** है। याने किसी को शासन में स्थापित करना है।"

गुरुदेव के सांप्रदायिकता विहीन प्रशिक्षण का एक उदाहरण–

एक कट्टर ईसाई विपश्यना सीखने आया। प्रारंभिक औपचारिकताओं के सार को समझाते हुए जब गुरुजी ने तीन रत्न की शरण लेने के लिए कहा तो वह व्यक्ति बहुत घबराया। उसे लगा कि इस प्रकार उसे ईसाइयत से बौद्ध सम्प्रदाय में दीक्षित किया जा रहा है और इस निरर्थक भय से भीत होकर वह बुद्ध की शरण ग्रहण करने से मुकर गया। कहने लगा, "शरण लेनी है तो ईसामसीह की लूंगा, बुद्ध की नहीं।"

"बहुत ठीक" गुरुजी ने मुस्कराते हुए कहा। "ईसामसीह की ही शरण ग्रहण करो। पर इसी समझदारी के साथ कि तुम वस्तुतः ईसामसीह के गुणों की शरण ग्रहण कर रहे हो, ताकि वे गुण तुम में भी जागें। पर काम में जैसे बताऊं वैसे ही किए जाओ।" उसने वैसे ही काम किया। शील, समाधि, प्रज्ञा का और शिविर समाप्त होते-होते वह अपने प्रारंभिक विरोध के लिए बहुत पछताया। वह जान गया कि सम्प्रदाय में दीक्षित होने का उसका भय नितांत निर्मूल था।

इसी प्रकार की एक और घटना –

मेरा एक मुस्लिम मित्र रंगून में व्यापार करता था और वर्षों से अनिद्र रोग का रोगी था। रोग दबाने के लिए जो-जो दवाएं लेता, उनके दुष्परिणामों से और अधिक दुःखी हुए जा रहा था। जब उसने सुना कि मैं अपनी असह्य पीड़ाओं से इसी साधना द्वारा मुक्त हो गया हूं, तो मुझसे मिलने आया। विपश्यना के बारे में बहुत से प्रश्न किए। मैंने विस्तारपूर्वक उसे सारी विधि समझायी। वह बड़ा प्रभावित हुआ और शिविर में सम्मिलित होने के लिए आतुर हो उठा। परंतु इसके पहले वह एक बार गुरुदेव से मिलना चाहता था। आश्रम देखना चाहता था।

एक शाम मैं उसे आश्रम ले गया और गुरुजी से मिलवाया। वहां का प्रशांत वातावरण और गुरुदेव के मंगल-मैत्रीपूर्ण व्यवहार ने

उसे बहुत ही प्रभावित किया और उसने अगले ही शिविर में सम्मिलित होने की दृढ़ इच्छा प्रगट की।

गुरुजी से मिला देने के बाद मैं उस मित्र को आश्रम के विभिन्न स्थान दिखाने ले गया ताकि वह निवास और ध्यान की उपलब्ध सुविधाओं को भी देख ले। यूं आश्रम का चक्कर काटते-काटते मैंने देखा कि उस व्यक्ति का मुँह विवर्ण हो उठा। उसका सारा उत्साह फीका पड़ गया। मैं समझ नहीं सका कि आखिर उसे यकायक क्या हुआ? मैंने उससे कारण पूछा तो झिझकते हुए उसने अपनी कठिनाई मेरे सामने रख दी।

चैत्य के आठों ओर आठ शून्यागार हैं। उनमें से उत्तर दिशावाले शून्यागार में एक बुद्ध मूर्ति स्थापित है। परंतु वह साधकों के लिए नहीं है। जिस शून्यागार में वह मूर्ति स्थापित है, उसका दरवाजा गुरुजी के लिए बने केन्द्रीय शून्यागार में खुलता है। इस मूर्ति के ठीक सामने गुरुजी के शून्यागार के बाद जो दक्षिण दिशावाला शून्यागार है, उसका दरवाजा खुला हो और बीच में गुरुजी वाले शून्यागार का दरवाजा खुला हो तो ही बाहर वाले व्यक्ति को वह मूर्ति दिख सकती है अन्यथा नहीं। संयोग से यही हुआ। उस समय दोनों दरवाजे कुछ-कुछ खुले थे। इस भाई ने मूर्ति देखी और दक्षिणी शून्यागार में बैठे हुए किसी बर्मी बौद्ध को झुककर प्रणाम करते हुए देखा। वह इससे घबरा उठा।

कहने लगा "हमारे मजहब में बुत परस्ती मना है और यहां तो लोग इस मूर्ति को और तुम्हारे गुरुजी को झुक-झुककर प्रमाण करते हैं। मुसलमान होने के नाते मैं तो केवल खुदा को ही झुककर प्रणाम कर सकता हूं, और किसी को नहीं। इस कारण मेरे लिए विपश्यना में आना नामुमकिन है।"

मैं जानता था गुरुदेव इसे क्या कहेंगे। मैं उसे आग्रहपूर्वक गुरुजी के पास ले गया और कहा कि वह अपनी कठिनाई गुरुजी के सामने पेश करे। गुरुजी ने उसकी सारी बात सुनी। बहुत हँसे और कहा, "इसमें क्या कठिनाई है? तुम्हें तो साधना सीखनी है? मेरे सामने झुकने की कतई आवश्यकता नहीं और न ही इस बुद्ध मूर्ति के सामने झुकने की। यह तो जो परंपरागत बौद्ध हैं उनकी संतुष्टि के लिए, उनकी प्रेरणा के लिए है। ध्यान मूर्ति का नहीं कराया जाता। तुम्हें इस मूर्ति को देखने की भी जरूरत नहीं। तुम चाहो तो पूरे १० दिन शिविर के दौरान इस मूर्ति के आगे परदा लगा दें। तुम्हें तो साधना करनी है, मूर्तिपूजा नहीं करनी। इस मूर्ति के कारण तुम साधना से क्यों वंचित रहो भला?"

मेरे मित्र के मन की पूरी झिझक तो नहीं निकली पर मान गया और शिविर में सम्मिलित हुआ। मैं रोज सायंकाल आश्रम में आता तो उससे भी मिलता। छठें या सातवें दिन मैंने देखा कि वह अन्य साधकों की तरह गुरुजी के सामने तीन बार झुककर प्रणाम कर रहा है। अब उसने धर्म का रस चख लिया था। उसकी कीमत समझ गया था। कृतज्ञता के भावों से अभिभूत होकर स्वतः गुरुदेव को नमस्कार करने को जी चाहने लगा। अब वह समझ गया कि नमन व्यक्ति को नहीं, बल्कि व्यक्ति के गुणों को है। धर्म को है। सच्चाई को है। गुरुदेव तो केवल माध्यम हैं।

शिविर पूरा करके ,उससे लाभान्वित होकर भी वह व्यक्ति अपने आप को बौद्ध न कहकर मुसलमान ही कहता रहा। पर यथाशक्ति शील, समाधि, प्रज्ञा का जीवन जीता रहा। गुरुदेव के मन में इस बात को लेकर कभी कोई मलाल नहीं हुआ। इस व्यक्ति के प्रति उनकी मैत्री उतनी ही सबल रही। वह अपने आप को चाहे जिस नाम से पुकारे। वह धर्म को समझ गया और धर्म का जीवन जीने लगा। उनके लिए यही पर्याप्त था।

***

'चैत्य' ध्यान-साधना के लिए

बर्मा में जो पगोडा बनते हैं वे अक्सर ठोस होते हैं, जहां सामान्य लोग जाकर पूजा-पाठ करते हैं और पुष्प, धूप, दीप आदि चढ़ाते हैं। पर गुरुदेव ने एक खोखला चैत्य बनवाया, जिसके भीतर ध्यान करने के लिए शून्यागार बनवाए, जो साधकों के ध्यान के काम आएं। कुछ लोगों ने इस क्रांतिकारी विचार का विरोध भी किया, पर गुरुदेव नहीं माने। उन्होंने इस चैत्य में बुद्ध मूर्ति की स्थापना भी नहीं की। उनकी नजरों में इसकी आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि साधना में बुद्ध के रूप या आकृति का ध्यान तो कराया नहीं जाता था। साधना तो सार्वजनीन थी। अपने स्वाभाविक सांस को जानना तथा शरीर पर होनेवाली संवेदनाओं को उनके अनित्य स्वभाव में अनुभव करना।

दो वर्ष तक बिना मूर्ति के ही आश्रम चलाते रहे। परंतु यह पुरानी परंपरा के विरुद्ध था। पगोडा बने और उसमें बुद्ध की कोई मूर्ति स्थापित न की जाए, यह अनहोनी बात थी। धीरे-धीरे परंपरागत बौद्धों का और सरकारी लेखा-जोखा विभाग के कुछ एक उनके साथियों का भी विरोध शुरू हुआ। अंततः गुरुदेव मान गए कि चैत्य के आठ शून्यागारों में से एक में बुद्धरूप स्थापित किया जाय। परंतु विपश्यना साधना के प्रशिक्षण में कोई अंतर नहीं किया गया। वह वैसी ही रही। सार्वजनीन, सार्वभौम। जब कोई व्यक्ति श्रद्धावश बुद्ध-रूप को नमस्कार करे तो उसे बुद्ध के गुणों को याद करने के लिए आदेश दिया जाता था, जिससे उसमें प्रेरणा जागे। नमस्कार करते हुए अनित्य, दुःख, अनात्म को ही अनुभव करने के लिए कहा जाता था। साधना का आलंबन तो धर्म ही था। मूर्ति नहीं।

धर्म पुत्र,
स. ना. गो.